महाभारत : भारतीय साहित्य और हमारा समय

अभिराज राजेन्द्र मिश्र

प्रबन्धेऽस्मिन् महाभारतयुगस्य साम्प्रतिकयुगस्य तुलना विधीयते। साम्प्रतिकः कालः किं महाभारतकालेन तुल्यः इति प्रश्नमुद्भाव्य नेति तिरस्क्रियते। समानता केवलं वर्तते कुप्रवृत्तिषु। तथापि इदमस्ति महदन्तरं साम्प्रतिक-मनुष्यस्य चारित्रिकदृढतायाम्। महाभारतकाले दुष्टः त्रिकरणैः दुष्ट आसीत्, शुचिश्च त्रिकरणैः शुचिः इति भेदप्रदर्शन-पुरस्सरम् आधुनिकसामाजिकप्रवृत्तीः दर्शयति लेखकः।

रामायण एवं महाभारत भारतराष्ट्र के आयुष्य सूचक मानदण्ड हैं। अनेक पुराणों तथा महाभारत में उपलब्ध प्रमाण से सिद्ध है कि मर्यादापुरुषोत्तम राम का अवतरण वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर के २४वें त्रेता एवं द्वापर-युग की सन्धिवेला (त्रेता के ६०० वर्ष तथा द्वापर के ३०० वर्ष = १००० वर्ष) में हुआ था। सम्प्रति २८वाँ कलियुग प्रवर्तमान है, अतः विभिन्न युगों की कालावधि को दृष्टि में रखते हुए, कालगणना करने पर भगवान् राम का अवतरण अब से १४५५६८५७ वर्ष (एक करोड़ पैंतालीस लाख छप्पन हजार सात सौ सत्तावन) पूर्व सिद्ध होता है।

अब कृष्ण के बारे में विचार करें । श्रीमद्भागवत में स्पष्टतः कहा गया है कि जिस दिन वासुदेव कृष्ण ने छहलीला-संवरण किया, उसी दिन से (द्वापर की समाप्ति के अनन्तर) कलियुग प्रवृत्त हुआ-

यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं जहौ स्वतन्वा श्रवणीयसत्कथः।
तदाहरेवाप्रतिबुद्धचेतसामधर्महेतुः कलिरन्वर्तत॥

-श्रीमद्भागवतम्, २-२५.३६

यस्मिन्नहनि यर्हेव भगवानुत्ससर्ज गाम्।
तदैवेहानुवृत्तोऽसावधर्मप्रभवः कलिः ॥

-श्रीमद्भागवतम्, १.१८.६

सम्प्रति कलिसंवत् ५१०९ प्रवर्तमान है। यही कलि की प्रारंभ-तिथि भी है और कृष्ण की परमहामगमन-तिथि भी। कृष्ण ने जीवन १२६ वें वर्ष में शरीर त्यागा था अतएव कृष्ण की जन्मतिथि ५१०९ + १२६ = ५२३५ वर्ष ई० पू० है। कृष्ण की मृत्युतिथि से ३६ वर्ष पूर्व अर्थात् ५१४५ वर्ष ई० पू० में महाभारत युद्ध सम्पन्न हुआ था। युद्ध के समय गुरुद्रोण की अवस्था ४०० वर्ष, पितामह भीष्म की अवस्था १८७ वर्ष, कृष्ण एवं कर्ण की अवस्था ९० वर्ष, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन एव नकुल-सहदेव की अवस्था क्रमश : ६९, ६८, ६७, तथा ६६ वर्ष थी।

महाभारत युद्ध की सामप्ति के ६० वें वर्ष में भगवान् वेदव्यास ने, राजा परीक्षित् के आग्रह पर, उन्हें **जयसंहिता** नामक युद्धकथा सुनाई थी जिसमें ८८०० श्लोक थे। कालान्तर में, परीक्षित-पुत्र जनमेजय के नागयज्ञ के अवसर पर यही कथा व्यासशिष्य वैशम्पायन द्वारा राजा जनमेजय को सुनाई गई। इस कथा में युद्धवर्णनों का विस्तार होने से श्लोकों की संख्या चौबीस हजार थी। कथा का नाम था **भारतसंहिता,** क्योंकि यह भरतवंशी नरपतियों (कौरवों तथा पाण्डवों) से सम्बद्ध थी।

उस युग के प्रसिद्ध सूत (कथावाचक) लोमहर्षण-पुत्र लौमहर्षणि उग्रश्रवा ने, वैशम्पायन से सुनी उसी कथा को पुनः नैमिषारण्य में महर्षि शौनक के आग्रह पर प्रस्तुत किया, अपनी रससिद्ध सूतशैली में । फलतः आख्यानोपारव्यान-मण्डित यह कथा **लक्षश्लोकी** बन गई तथा कथा की विशालता के कारण नाम भी इसका हो गया- **महाभारत।**

श्रीमद्भागवत् के प्रामाण्य से ऐसा प्रतीत होता है कि नागराज तक्षक के दंश से अपने महायंशस्वी पिता महाराज परीक्षित को कालकवलित हुआ देख, जनमेजय नागों के प्रति तत्काल असहिष्णु हो उठा और उसने उनके विनाशार्थ बारह वर्षों तक चलने वाले नागयज्ञ को प्रारंभ करा दिया-

ब्रह्मभूतस्य राजषैर्देहोऽहिगरलाग्निना।
बभूव भस्मसात्सद्यः पश्यतां सर्वदेहिनाम्॥

हाहाकारो महानासीद्भुवि खे दिक्षु सर्वतः।
विस्मिता ह्यभवन् सर्वे देवाऽसुरनटादयः॥

जनमेजयः स्वपितरं श्रुत्वा तक्षकभक्षितम्।
यथा जुहाव संक्रुद्धो नागान् सत्रे सह द्विजैः॥

सर्पसत्रे समिद्धाग्नौ दह्यमानान् महोरगान्।
दृष्ट्वेन्द्रं भयसंविग्नस्तक्षकः शरणं ययौ॥

–श्रीमद्भागवतम्, १२.६.१३-१६

महाभारत के प्रामाण्य से सिद्ध होता है कि सूत उग्रश्रवा जनमेजय के नागयज्ञ में, महर्षि वैशम्पायन के मुख से प्रस्तुत भारतकथा को सुन कर, **सीधे** नैमिषारण्म पहुँचे थे। वहाँ वृद्ध कुलपति महर्षि शौनक के आग्रह पर उन्होंने **महाभारत** कथा आश्रमवासी अठासी हजार ऋषियों को सुनाई। उग्रश्रवा **महाभारत** कथा के विशेषज्ञ थे। यह इतिहास उन्हें अपने पिता लोमहर्षण को ही प्राप्त हुआ था। **श्रीमद्भागवत** के प्रमाणानुसार **पञ्चमवेद**-स्वरुप इतिहास की शिक्षा लोमहर्षण ने महर्षि कृष्णाद्वैपायन से ही प्राप्त की थी-

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः।
इतिहासपुराणञ्च पञ्चमो वेद उच्यते॥

तत्रग्वेंदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत॥

अथर्वाङ्गिरसामासीत्सुमन्तुर्दारुणो मुनिः।
इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः॥

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह॥

इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥

–श्रीमद्भागवतम्, १.४.२०-२५

इस प्रकार (क) स्वयं कृष्णद्वैपायन व्यास द्वारा परीक्षित को सुनाई गई **जयसंहिता** (ख) जनमेजय के नागयज्ञ में व्यासशिष्य वैशम्पायन द्वारा सुनाई गई **भारतसंहिता** तथा (ग) नैमिषारण्य में सूत लौमहर्षणि उग्रश्रवा द्वारा शौनकादि ऋषियों को सुनाई गई **महाभारतसंहिता** की प्रस्तुतियों को यदि घटनाकाल की दृष्टि से जोड़ कर देखें तो प्रतीत होता है कि ये तीनों कथा प्रस्तुतियाँ अधिकाधिक पच्चीस वर्ष के अन्तराल में ही हुई होंगी। वस्तुतः परीक्षित की मृत्यु एवं नागयज्ञ तथा नागयज्ञ एवं नैमिषाराण्य कथासत्र के बीच नाममात्र का अन्तर है।

यह भी सुस्पष्ट है अन्तःसाक्ष्य से ही कि **महाभारत** की रचना **श्रीमद्भागवत** से पूर्व हुई। वेदों की चतुर्धा व्यवस्था, पुराणों की रचना तथा

सार्ववर्णिक **पञ्चमवेद** महाभारत की सर्जना के बाद कृष्णद्वैपायन ने स्वयं को पूर्ण कृतकृत्य मान लिया था। परन्तु ऐसा हुआ नहीं। उन्हें आत्म सन्तुष्टि नहीं मिली।[१] उन्हें स्वयं ऐसा प्रतीत हुआ कि उनके आत्मिक असन्तोष का कारण है– भागवत धर्मों के निरुपण से अब तक विरत रहना!

किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः।
प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रिया : ॥

चिन्ता के इन्हीं क्षणों में आते हैं देवर्षि नारद! नारद पूछते हैं व्यास से कि आपका शरीर, मन एवं आत्मा परितुष्ट तो है? आपने तो वह सब कुछ संसार को बता दिया जो जानने योग्य था। इतना ही नहीं, आपने **सर्वार्थपरिबृंहित** भारतसंहिता भी रच डाली। फिर भी प्रभो! आप स्वयं को अकृतार्थ सा मान रहे हैं?

पाराशर्य महाभाग! भवतः कच्चिदात्मना।
परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा॥
जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम्।
कृतवान् भारतं यत्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम्॥
जिज्ञासितमधीतं च यत्तद्ब्रह्म सनातनम्।
अथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभा॥

–श्रीमद्भागवतम्, २.५.२-४

भगवान् व्यास बड़ी ईमानदारी से इस तथ्य को स्वीकार कर लेते हैं कि सचमुच वह पुराणरचना, वेदव्यवस्था एवं भारतसंहिता के प्रणयन से सन्तुष्ट नहीं हैं। वह विनम्रतापूर्वक देवर्षि नारद से आत्मसन्तुष्टि का उपाय पूछते हैं, उनकी सर्वज्ञता की प्रशंसा करते हुए। उन्हें भगवान् श्रीहरि का गुणानुवाद करने की प्रेरणा देते हैं।[२] कितना विलक्षण सत्य है कि जिन देवर्षि नारद ने भगवान् दाशरथि का चरित गाने की प्रेरणा प्राचेतस वाल्मीकि को दी थी वही महर्षि कृष्ण द्वैपायन को भी प्रेरित कर रहे हैं– नन्दनन्दन योगीश्वर कृष्ण का यशोगान करने के लिए। इस प्रकार, **रामायण** एवं **श्रीमद्भागवत** दोनों ही आर्षकाव्यों के उद्गावक देवर्षि नारद हैं।

रामायण एवं **श्रीमद्भागवत**–दोनों ही ग्रन्थ अपने चरित नायकों के समकालीन हैं। रामायण की रचना तो वाल्मीकि ने तब की, जब वह रावणवधानन्तर अयोध्या नरेश के रुप में अभिषिक्त थे। अपना चरित्र उन्होंने सुना भी, लव-कुश

के मुँह से। हाँ, **श्रीमद्भागवत** का प्रणयन महर्षि व्यास ने भगवान् कृष्ण के धराधाम-छोड़ने के बाद किया। जैसा कि प्रारंभ में ही संकेत किया गया है कि **महाभारत**-संहिता के संक्षित रुप **जयसंहिता** की रचना व्यास ने, युद्ध बीतने के ६० वें वर्ष में की थी। अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि अगले ही एक दशक के अन्तराल में उन्होंने **श्रीमद्भागवत** का भी प्रणयन किया होगा। वेदों का चतुर्धा विभाजन तथा पुराणों की रचना तो कृष्णद्वैपायन ने संभवतः बदरिकाश्रम के शान्तवातावरण (वर्तमान व्यासगुफा) में की । परन्तु **श्रीमद्भागवत** का प्रणयन उन्होंने ब्रह्मनदी सरस्वती के पश्चिमी तट पर विद्यमान, बदरी वृक्षों से घिरे अपने शम्याप्रास नामक आश्रम में किया। रचना के अनन्तर, यहीं उन्होंने अपने निवृत्तिनिरत पुत्र शुकदेव को **श्रीमद्भागवत** को पढ़ाया भी !

ब्रह्मनद्यां सरस्वत्यामाश्रमः पश्चिमे तटे।
शम्याप्रास इति प्रोक्त ऋषीणां सत्रवर्धनः ॥

तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासो बदरीषण्डमण्डिते।
आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौ मनः स्वयम्॥

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत् पुरुषं पूर्वं मायां च तदपाश्रयाम्॥
स संहितां भगवतीं कृत्वाऽनुक्तस्य चात्मजम्।
शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः॥

–श्रीमद्भागवतम्, १.७.२.४,८

जैसे देवतात्मा हिमालय, पूर्व से पश्चिम-समुद्र तक व्याप्त, पृथ्वी का मानदण्ड प्रतीत होता है[४] ठीक उसी प्रकार **महाभारत** भी भारतीय वाङ्मय तथा ऐतिहासिक कालचक्र का मानदण्ड है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह मानदण्ड **श्रीमद्भागवत** क्यों नहीं है ! उसका उत्तर, मेरी दृष्टि में यही है कि **महाभारत** एक जीवन्त दस्तावेज़ है– कुरुक्षेत्र के धर्मयुद्ध का ! एक ऐसा विलक्षण समर जिसमें १८ अक्षौहिणी सेनायें मात्र अठारह दिनो में स्वाहा हो गईं। यह युद्ध अब से ५२४५ वर्ष पूर्व हुआ था। इस प्रकार **महाभारत** एक ऐसी ऐतिहासिक कालसीमा का साक्षी है जो समूचे विश्व के इतिहास में प्राचीनतम है।

परन्तु **श्रीमद्भागवत** ऐसी किसी ऐतिहासिक कालावधि का साक्षी नहीं। वह तो परमहंसो की मुक्तिसंहितामात्र है। वह अधोक्षज भगवान् वासुदेव की भक्ति का सोपानभूत ग्रंथ है जो कालातीत है।

दूसरी ओर, **महाभारत** हमारे साहित्य का भी मानदण्ड है, परवर्ती विशाल भारतीय साहित्य का उपजीव्य होने के कारण। तो क्या **श्रीमद्भागवत** उपजीव्य नहीं है ! इसका उत्तर यही हो सकता है कि **श्रीमद्भागवत** परवर्ती भारतीय साहित्य का अंशतः उपजीव्य माना जा सकता है क्योंकि इसके विभिन्न स्कन्धों में वर्णित विष्णु के अवतारों की कथायें तत्तत् पुराणों (मत्स्य, कूर्म, वाराह, वामनादि) में ही विस्तारपूर्वक वर्णित की गई हैं। यहाँ तक कि **श्रीमद्भागवत** की प्रमुखतम कृष्णकथा का भी प्रतिपादन ब्रह्मवैवर्त, विष्णु एवं हरिवंशादि पुराणों में विस्तारपूर्वक हुआ है। इस प्रकार **श्रीमद्भागवत** भगवान् कृष्ण का **महिमगायक** ग्रंथ है। **श्रीमद्भागवत** का भी अपना उपजीव्य **महाभारत** ही है।

वस्तुतः **महाभारत** के अभाव में भारतीय साहित्य और भारतीय इतिहास का सही मूल्यांकन ही नहीं किया जा सकता।

परवर्ती भारतीय सहित्य का उपजीव्य रहा है **महाभारत**। महाकवि भास के अनेक नाटक (**कर्णभार, मध्यमव्यायोग, ऊरुभङ्ग, पञ्चरात्र, दूतवाक्य** आदि) भट्टनारायण-प्रणीत **वेणीसंहार**, राजशेखर-प्रणीत **प्रचण्डपाण्डव,** कालिदास-प्रणीत **अभिज्ञानशाकुन्तल,** भारविप्रणीत **किरातार्जुनीयमहाकाव्य,** माघप्रणीत **शिशुपालवध**महाकाव्य-सबके सब **महाभारत** से ही अन्तः प्रेरित हैं। अनेक जैनकवियों की महाकाव्य कृतियाँ भी **महाभारत** से ही प्रभावित हैं।

महाभारत भारतीय-साहित्य की प्रकृति को निर्धारित करता है। यह साहित्य की प्रकृति आखिर है क्या? साहित्य की प्रकृति का अर्थ है वह सारा मूल्य (Values) जिन्हें ले कर वह प्रवृत्त होता है। जिन मूल्यों से साहित्य अस्तित्व में आता है, वही उसकी प्रकृति कहा जाता है, भारतीय साहित्य की प्रकृति का निर्धारण भारतीय दर्शन करता है, अध्यात्म करता है, पुराकथाओं के उदात्त आदर्श करते हैं। भारतीय साहित्य की वह प्रकृति न यूरोपीय साहित्य में है, न ही अरबी-फारसी साहित्य में।

महाभारत एक ही साथ धर्म के विविध रूपों की व्याख्या करता चलता है। एक ओर शाश्वत, चिरन्तन धर्म है जिसमें कोई विकल्प नहीं, जो देव, राक्षस, मानव पशु-पक्षी-सबके लिये समान है तो दूसरी ओर युगधर्म है जो मानवकृत है तथा सामाजिक योग-क्षेम बनाये रखने के लिए एक **'संविदा'** के रूप में शिरोधार्य किया जा रहा है। तीसरी ओर है आपद्धर्म जो प्राणरक्षार्थ पालित हो रहा है और चौथी ओर है **व्यक्तिधर्म** जो परिस्थिति-जन्य है।

शाश्वतधर्म वही है जिसे हम **दशकं धर्मलक्षणम्** द्वारा व्याख्यात करते हैं–

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ दशलक्षण धर्म को ही मान्यता देते हैं। परवर्ती व्याख्याकारों ने भी मनोऽनुकूल व्याख्यायें की धर्म की जिनमें सर्वाधिक ग्राह्य है महर्षि पतञ्जलि की व्याख्या–**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।** अर्थात् वे उदात्तमूल्य (Noble Values) जिनके पालन से लोक में (जीवन में) अभ्युदय प्राप्त हो तथा परलोक में (मृत्यु के अनन्तर) निःश्रेयस की सिद्धि हो वही धर्म है। वस्तुतः इसी शाश्वत धर्म की प्रतिष्ठा **श्रीमद्भगवद्गीता** में की गई है।

महाभारत में अनेकश वर्णित **नियोग-प्रथा** को हम युगधर्म का उदाहरण मान सकते हैं। इस धर्मव्यवस्था के अन्तर्गत वंशक्षय की स्थिति में कोई नारी, वंश की रक्षामात्र करने के उद्देश्य से (न कि चिरावधिक शरीरसुख पाने के लिए) किसी भी श्रेष्ठ कुलपुरुष अथवा ऋषि-महर्षि से सन्तान प्राप्त कर सकती थी। विचित्रवीर्य की मृत्यु हो जाने पर उनकी पत्नियों अम्बिका एवं अम्बालिका ने माता सत्यवती की अनुज्ञा प्राप्त कर, इसी विधि से महर्षि व्यास के सम्पर्क से धृतराष्ट्र एवं पाण्डु को प्राप्त किया था। स्वयं पाण्डुपत्नी कुन्ती एवं माद्री ने भी नियोगविधि से ही, देवों के सहयोग से पुत्र प्राप्त किये थे।

नियोग भी एक प्रकार का युगधर्म था। इसमें कामोपभोग का लक्ष्य कामसुख नहीं अपितु, उच्छिद्यमान सन्ततिपरम्परा की रक्षा मात्र थी। यह स्वच्छन्द कामोपभोग नहीं था अपितु धर्माविरुद्ध कामोपभोग था। इसीलिए यह चौर्यरति, व्यभिचार तथा अगम्यगमन जैसे कामदोषों (पापों) से मुक्त था। इस विधि से उत्पन्न सन्ततियाँ समाज में औरस सन्तानों के ही समान आदरणीय एवं उत्तराधिकार सम्पन्न होती थी।

आपद्धर्म अथवा संकटकालीन धर्म का मूलाधार होता था– प्राणरक्षा। प्राणरक्षा, चाहे अपनी हो अथवा किसी और की, सर्वोपरि है। उसकी रक्षा के लिए स्थापित धर्म की उपेक्षा (अ-पालन) भी श्रेष्ठतर धर्म के रूप में मान्य थी। **महाभारत** में आपद्धर्म के अनेक दृष्टान्त देखने को मिलते हैं। प्राणरक्षा के लिए महर्षि विश्वामित्र को 'कुत्ते का मांस' खाना पड़ता है (परन्तु ऐसा करने से वह चाण्डाल नहीं बन जाते), पाण्डवबन्धुओं ने यह नियम बना रखा था कि किसी

एक भाई के साथ रहने पर, द्रौपदी के वासकक्ष में कोई अन्य भाईप्रवेश नहीं करेगा। यदि किसी ने ऐसा किया तो उसे बारह वर्ष का वनवास स्वीकार करना होगा।

परन्तु एक संकटकालीन स्थिति में सव्यसाची अर्जुन को यह नियम तोड़ना ही पड़ा। दस्युओं ने आक्रमण कर किसी ब्राह्मण की गायें चुरा लीं। वह क्रन्दन करता हुआ अर्जुन के पास आया। परन्तु अर्जुन का गाण्डीव दुर्भाग्यवश द्रौपदी के ही कक्ष में था। तथापि शरणागत रक्षा के लिये अर्जुन को, शस्त्र लेने के लिए, कृष्णा के कक्ष में जाना ही पड़ा, जहाँ वह धर्मराज युधिष्ठिर के साथ थी। अर्जुन ने दस्युओं का संहार कर ब्राह्मण की गायें तो लौटा लीं, परन्तु प्रतिज्ञाभंग होने के कारण वह बारह वर्षों के लिए तीर्थाटन पर चले गये। अर्जुन ने जिस धर्म का पालन किया, दूसरे धर्म का तिरस्कार कर के, वस्तुतः वह **आपद्धर्म** था। आपद्धर्म सदैव सामान्य धर्म से श्रेष्ठतर माना जाता है क्योंकि उसका लक्ष्य महान् होता है, वह किसी उदात्ततम लक्ष्य की पूर्ति के लिए पालित किया जाता है।

पाण्डवबन्धुओं ने अज्ञातवास में राजा विराट् का किङ्करत्व स्वीकार किया, द्यूतसहायक, रसोइया, अश्वपाल, गोरक्षक तथा बृहन्नला बना कर तथा राजरानी द्रौपदी ने भी राजमहिषी सुदेष्णा की सेविका बनना स्वीकार किया (सबके सब अपने क्षत्रियधर्म से च्युत हुए)। यह आपद्धर्म ही था। परन्तु यह आपद्धर्म, सामान्यधर्म की अपेक्षा इसीलिए महान् था क्योंकि इसका उद्देश्य था—आत्मरक्षा। और वह आत्मरक्षा संभव थी अज्ञातवास के १२वें वर्ष में भी स्वयं को अज्ञात (गुप्त) बनाये रखने में। यदि पाण्डवों की पहचान हो जाती तो, कौरवों के साथ बंदी शर्त के अनुसार, उन्हें दूसरा द्वादशवर्षीय अज्ञातवास स्वीकार करना पड़ता।

पाण्डवों के जीवन में घटित ऐसे आपद्धर्मों के अन्य अनेक प्रसंग **महाभारत** में वर्णित हैं। माद्री के सगे भाई तथा नकुल-सहदेव के सगे मामा होते हुए भी मद्रराज शल्य ने दुर्योधन के पक्ष से युद्ध किया क्योंकि दुर्योधन ने, मार्ग में ही उनकी अगवानी कर, उनका आशीः प्राप्त कर लिया था। शल्य ने आपद्धर्म का ही पालन किया।

महाभारत में धर्म का एक चौथा रूप भी दिखता है जिसे **व्यक्तिधर्म** की संज्ञा दी जा सकती है। यह धर्म का वह रूप है जो समूचे ब्रह्माण्ड से पृथग्भूत हो कर किसी एक महासत्त्व में प्रतिष्ठित हो जाता है। उस महासत्त्व की

त्याग, तपस्या, सत्यसन्धता, ऋतसत्यनिष्ठा एवं चारित्रिक दृढ़ता के समक्ष वह धर्म 'नगण्य' सिद्ध हो जाता है तथा उस महासत्त्व द्वारा खलीकृत होने पर भी उसे 'अधर्मपरायण' नही सिद्ध कर पाता। वस्तुतः व्यक्तिधर्म, धर्म के अन्य समस्त रूपों से महान् होता है। यह व्यक्तिधर्म व्यक्तिविशेष के साथ ही उत्पन्न होता है तथा उसी के साथ समाप्त भी हो जाता है।

महाभारत में इस व्यक्तिधर्म के सर्वोत्तम प्रतीक हैं गंगापुत्र भीष्म। उनके जीवन में अनेक वैयक्तिक धर्म जन्म लेते हैं जिनका वह प्राणपण से पालन करते हैं। भीष्म का प्रथम व्यक्तिधर्म है– कुमार देवव्रत के रूप में, आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने की प्रतिज्ञा। इस व्रत की रक्षा के लिए ही वह अम्बा से विवाह नहीं करते, गुरु (परशुराम) की आज्ञा का उल्लंघन तथा उनके साथ युद्ध तक करते हैं।

भीष्म का दूसरा **व्यक्तिधर्म** है एक ही शरीर में प्रथमतः नारी रहे शिखण्डी पर शरसन्धान न करना तथा निश्शस्त्र स्थिति में अर्जुन के बाणों से क्षत-विक्षत होकर रणभूमि में धराशायी हो जाना। भीष्म जैसा सूक्ष्मातिसूक्ष्मधर्मतत्त्वदर्शी महापुरुष ही ऐसा निर्णय ले सकता था, कोई और नहीं।

वनवास की अवधि में दुष्ट जयद्रथ महारानी द्रौपदी का अपहरण कर लेता है परन्तु महाबली भीम जयद्रथ को पराजित कर कृष्णा की रक्षा करते हैं। वह बन्दी बनाये गये जयद्रथ ाके मृत्युदण्ड देने की प्रार्थना करते हैं। सभी पाण्डवबन्धु भीम का समर्थन भी करते हैं। परन्तु धर्मराज युधिष्ठिर उसकी मृत्यु से, अपनी ही बहन त्रिशला (जो दुर्योधन की सगी बहन है) के वैधव्य का भय दिखा कर, कृष्णा को अपना पक्षधर बना लेते हैं। कृष्णा स्वयं अपनी ओर से जयद्रथ को मृत्यु से मुक्त कर देती है तथा कोई और दण्ड देने को कहती है। भीम उसे मुण्डितशिरस्क कर के छोड़ देते हैं। पत्नी का अपहरण करने वाले एक नृशंस के प्रति युधिष्ठिर का यह सदाचरण निश्चय ही उनके **व्यक्तिधर्म** का परिणाम है।

वैयक्तिक धर्मदृष्टि तथा उसके अनुपालन के विलक्षण दृष्टान्त **महाभारत** में उपलब्ध हैं। अपने ही अधर्मपथासूढ पुत्र को गान्धारी द्वारा विजय का आशीः न प्रदान करना, राजरानी कुन्ती द्वारा युधिष्ठिर से ज्येष्ठ भ्राता (तथा अपने ज्येष्ठ पुत्र) कर्ण को जलाञ्जलि दिलवाना, कृष्ण का सर्वसमर्थ होते हुए भी, प्रतिज्ञाबद्ध होने के कारण, कठिनतम संकटस्थितियों में भी शस्त्र न उठाना, कृष्ण द्वारा वधार्थ बार बार उत्तेजित किए जाने पर भी, द्रौपदी द्वारा पुत्रहन्ता अश्वत्थामा का वध न

करने के लिए, अर्जुन से अनुनय करना–ये सब वैयक्तिक धर्मनिष्ठा के अद्‌भुत उदाहरण हैं जो विश्व साहित्य में अन्यत्र नहीं ही मिलते।

इस प्रकार, धर्म के विविध रूपों के प्रेरक प्रसंग, पाठकों को धर्म का स्फीत-स्वरूप समझाते हैं। वशिष्ठ, पतञ्जलि अथवा अन्यान्य ऋषियों महर्षियों के कतिपय-शब्दानुबद्ध धर्म के लक्षण हमें धर्म का वह मर्म नहीं समझा पाते जो मर्म **महाभारत** समझाता है, व्यवहाररूप में घटित धर्म के उन जटिल प्रसंगों से। पुत्रहन्ता नृशंस अश्वत्थामा, पाण्डवों तथा स्वयमेव वासुदेव को एक अक्षम्य अपराधी दिखता है जिसने गहरी नींद में सोते, निर्दोष द्रौपदी-पुत्रों को तलवार से काट डाला है। ऐसे पुत्रघाती जघन्य अपराधी को भला कौन माँ क्षमा करना चाहेगी? परन्तु द्रौपदी तो भूल जाती है नृशंस पुत्रहन्ता गुरुपुत्र को और याद करने लगती है आर्या गौतमी (द्रोणपत्नी) के पुत्रसन्ताप को, जो उन्हें प्राप्त होगा। उन्हें स्मरण आने लगते हैं अपने पतियों के धनुर्विद्यागुरु, आचार्य द्रोण जो सम्प्रति अपने पुत्र के ही रूप में उपस्थित हैं। वह व्यथाकातर हो उठती है तथा भगवान् कृष्ण के भी वधप्रस्ताव को ठुकराते हुए, अर्जुन से उस नीच अश्वत्थामा को मुक्त कर देने को कहती है। एक ओर तो कृष्ण कहते हैं–

मैनं पार्थार्ऽहसि त्रातुं ब्रह्मबन्धुमिमं जहि।
योऽसावनागसः सुप्तानवधीन्निशि बालकान्।।
मत्रं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जडम्।
प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्।।
स्वप्राणान् यः परत्राणैः प्रपुष्णात्यघृणः खलः।
तद् वधस्तस्य हि श्रेयो यद्‌दोषाद् यात्यधः पुमान्।।

–श्रीमद्भागवतम्, १.७.३५-३७

परन्तु ममता में भीगी द्रौपदी कहती है–

(उवाच चासहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती)
मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः।।
सरहस्यो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः।
अस्त्रग्रामश्च भवता शिक्षितो यदनुग्रहात्।।
स एष भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते।
तस्यात्मनोऽर्धं पत्न्यास्ते नान्वगाद्‌वीरसूः कृपी।।
तद्धर्मज्ञ महाभाग भवद्भिर्गौरवं कुलम्।
वृजिनं नार्हति प्राप्तुं पूज्यं वन्धमभीक्ष्णशः।।

मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता।
यथाऽहं मृतवत्साऽऽर्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः।।

–श्रीमद्भागवतम्, १.७.४३-४७

वस्तुतः **महाभारत** का कथानक **कालजयी कथानक** है। उसके कालजयित्व का सबसे बड़ा साधक प्रमाण यही है कि लगभग पाँच सहस्राब्दियाँ बीत जाने के बाद भी **महाभारत** की वही धर्मव्याख्या आज भी समाज में चरितार्थ है। आज भी कुछ लोग हैं राष्ट्र में जो धर्म के शाश्वत रूप को जानते हैं, उसका पालन भी कर रहे हैं। आज भी अनेक **युगधर्म** हैं जो शाश्वतधर्म की तुला पर **अधर्म** सिद्ध होते हुए भी, समाज एवं शासन के अनुमोदन-वश, धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हैं। आपद्धर्म एवं वैयक्तिक धर्मों का भी प्राचुर्य है समाज में।

तो क्या यह मान लिया जाय कि आज का हमारा समय **महाभारत** के समय के ही समान है? कत्तई नहीं। **महाभारत**-युग तथा आज का युग मात्र इस अर्थ में समान हैं कि सारी तद्युगीन प्रवृत्तियाँ आज के युग में भी वैसी ही हैं। अधिकारों की लड़ाई, गुटबन्धी, सत्यनिष्ठा, सत्य के प्रति अनिष्ठा, छल-वञ्छन, आत्मद्रोह, कुलद्रोह, शक्तिसन्तुलन-सब कुछ पहले जैसा ही आज भी है। तथापि सबसे बड़ा अन्तर है आज के मनुष्य की चारित्रिक दृढ़ता में। **महाभारत** काल में चाहे दुर्योधन, शकुनि एवं कर्ण जैसे विकृत व्यक्तित्व हों, चाहे भीष्म, विदुर, युधिष्ठिर जैसे साधु व्यक्त्वि, उनमें हमें मन, वचन एवं कर्म की एकता दिखाई पड़ती है। दुर्योधन मन से भी पापी है, वाणी से भी और कर्म से भी। अतः बुरा होते हुए भी वह सन्दिग्ध चरित नहीं है, अविश्वसनीय नहीं है। युधिष्ठिर यदि मन से पवित्र हैं तो वाणी और कर्म से भी। मृत्यु के मूल्य पर भी उनमें मन-वाणी तथा कर्म का भेद नहीं देखा जा सकता। अपनी इसी चारित्रिक दृढ़ता के कारण **महाभारत** युग का मनुष्य, जीवन के किसी मोड़ पर व्यक्तिधर्म, आपद्धर्म एवं युगधर्म का पालन करने के बावजूद साकल्येन शाश्वत धर्म के ही प्रति समर्पित दिखता है। ऐसा नहीं है कि आपद्धर्मवश एक बार श्वानमांस का भक्षण करने वाले विश्वामित्र सदा-सदा के लिये मांसभक्षी ही हो गये हैं। अथवा जन्मदात्री के निर्देशवश, एक बार भाई की पत्नियों से नियोग करने वाले कृष्णद्वैपायन ने, वियोग की अविच्छिन्न परम्परा अपना ली हो अथवा किसी ने व्यक्तिधर्म को शाश्वत धर्म बना लिया हो।

परन्तु आज का समय, **महाभारत** के समय से, प्रवृत्तियों में संवादी होते हुए भी, निर्वहण-अक्षमता के कारण **विसंवादी** परिलक्षित हो रहा है। आखिर क्यों? मनुष्य की चारित्रिक शिथिलता के कारण। आज के धर्माचार्य, महामण्डलेश्वर,

पण्डे, पुजारी, शास्ता, कोविद-कोई ऐसा नहीं जिसका मन, वाणी और कर्म समान हो। गृहस्थों को भी वह सुख-सुविधा, धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य-वैभव मयस्सर नहीं जो कषायवस्त्रधारी, तथाकथित विरक्त सन्तों को प्राप्त है। लाखों की भीड़ में आप उनकी तोतारटन्त वाणी सुनिए, प्रवचन सुनिए और फिर उनके कर्म देखिए! स्याह पैसों को सफेद करने की कला में वे माहिर हैं। सूदखोर हैं, अनेक कुटीर-उद्योगों के स्वामी हैं। और रहा उनका मन! वह तो उनके स्रष्टा विधाता को भी नहीं ज्ञात हो पाया।

एक धर्माचार्य ने एक विलक्षण **व्यक्तिधर्म** खोजा– सम्भोग से समाधि। यहाँ तक तो ठीक था। कुछ दशकों तक उनका इन्द्रजाल समूचे विश्व को मुग्ध करता रहा। फिर वह अपने उसी वैयक्तिक धर्म को **शाश्वतधर्म** सिद्ध करने लगे तो त्रिशंकु की तरह स्वर्गच्युत हो कर औंधे मुहँ नीचे गिर पड़े तथा नामशेष हो गये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज का मनुष्य इच्छाओं का क्रीतदास है। **महाभारत**-युग मे इच्छाएँ-आकांक्षाएँ ही मानव की क्रीतदासी प्रतीत होती हैं। पाण्डवबन्धु यदि इच्छाओं से अभिभूत होते तो संभवतः महाभारत-युद्ध पचासों वर्ष पूर्व ही हो गया होता। परन्तु वे पचास वर्ष उन्होंने गँवा दिए मात्र न्यायोचित, धर्मोचित जीवन-सरणि खोजने में। यदि पाण्डवों जैसी ही धर्मनिष्ठा दुर्योधनादि में भी होती तो संभवतः **महाभारत**-युद्ध होता ही न।

महाभारत हमें यह भी शिक्षा देता है कि हमारे सारे आचरणों का मानदण्ड समाज नहीं, प्रत्युत 'ऋत एवं सत्य' होना चाहिए। ऋत एवं सत्य का स्वरूप अत्यन्त जटिल है। कभी-कभी उसका स्वरूप समाज की दृष्टि से सर्वथा ओझल होता है, उसे सामान्य जन नहीं देख पाते। केवल अतीन्द्रियज्ञान के धनी, योगी जन ही उस सत्य को देख पाते हैं। तब स्थिति अत्यन्त जटिल हो जाती है। परोक्ष-सत्य परन्तु प्रत्यक्ष असत्यभूत उस धर्म का पालन कर पाना कठिन हो जाता है। यदि उस परोक्ष-सत्य को, आप्तप्रमाण से जान-पहचान कर हम स्वीकार करते हैं तो समाज में अधर्मी सिद्ध होते हैं क्योंकि लोक उस सत्य से पूर्णतः अपरिचित होता है। दूसरी ओर यदि लोक में अविदित उस सत्य को अस्वीकार कर दें तो परमार्थतः हम अधर्मी सिद्ध होते हैं क्योंकि लोक उस सत्य से पूर्णतः अपरिचित होता है। तब फिर परोक्ष-दृष्ट किन्तु प्रत्यक्षतः अदृष्ट उस धर्म के सन्दर्भ में हम क्या करें? **महाभारत** हमें बताया है कि ऐसे सन्दर्भ में हमें लोक की ही उपेक्षा कर देनी चाहिए। सत्य और धर्म लोक से बड़ा है। वह लोक की तुष्टि अथवा मनोरञ्जन का साधन नहीं है।

लोक तो पामरों से, अज्ञानग्रस्त प्राणियों से ओतप्रोत है जिनमें एक सीमित शक्ति ही होती है सत्य को जानने की। परन्तु सत्य तो सागर की गहराई, आकाश के विस्तार और हिमालय की ऊँचाई जैसा है। उस गहराई , उस विस्तार तथा उस ऊँचाई को भला सिद्धयोगी के अतिरिक्त कौन देख सकता है? इस प्रकार, सागर उतना ही सत्य नहीं जितना चर्मचक्षुओं से दिखता है। आकाश और हिमालय भी उतना ही सत्य नहीं, जितना वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है। अतः हमें दृष्ट एवं प्रकट सत्य एवं धर्म की अपेक्षा **प्रदृष्ट एवं अप्रकट सत्य एवं धर्म** के प्रति समधिक आस्थावान् होना चाहिए। संभव है कि ऐसा करने से लोकोपहास हो, क्योंकि लोक तो मात्र **दृष्ट एवं प्रकट** सत्य एवं धर्म को ही जानता है। द्रौपदी के पाँच पाण्डव-बन्धुओं से विवाह को सर्वथा विधिसम्मत, धर्मानुकूल एवं सत्य सिद्ध करते हुए महर्षि कृष्णद्वैपायन सत्य और धर्म की अत्यन्त गूढ़ व्याख्या करते हैं।

व्यास महारानी कुन्ती तथा द्रुपद आदि को उस **परोक्ष-सत्य** से परिचित कराते हैं जो इस सन्दर्भ में विद्यमान है। वस्तुतः पाँचों पाण्डव, एक ही देवराज इन्द्र की पञ्चधा विभक्त पाँच मूर्तियाँ हैं। इन्द्र का धर्मतत्त्व युधिष्ठिर में, पराक्रम-तत्त्व भीम में, ऐश्वर्य-तत्त्व अर्जुन में तथा रूपसौन्दर्य-तत्त्व नकुल-सहदेव में केन्द्रित है। व्यष्टि में वे भले ही पाँच हैं, परन्तु समष्टि में वे पाँचों एकमात्र इन्द्र ही हैं। अतः शचीरूपा द्रौपदी का विवाह परमार्थतः एक ही व्यक्ति से निष्पन्न हुआ मानना चाहिए। यह परोक्ष-सत्य है, जिसे न लोक जानता है न पहचानता है। परन्तु मैं अपने तपोबल से इस सत्य को **'हस्तामलकवत्'** देख रहा हूँ। तदनन्तर भगवान् व्यास, दिव्यदृष्टि प्रदान कर, यह परोक्ष सत्य पृथा एवं द्रुपद को भी दिखाते हैं कि किस प्रकार इन्द्र ने अपने जीवन में विरत्रिवप्रदत्त दैवीशक्तियों को दुरुपयोग किया तथा ब्रह्मा द्वारा अभिशप्त हुआ मृत्युलोक में आने के लिए।

पाण्डवों का यह प्रसंग हमारे लिए जीवन का महान् सम्बल है। कभी-कभी ऐसा होता है कि लाख प्रयत्न कर के भी हम सत्य को प्रतिष्ठित नहीं कर पाते, सत्य असत्य से हार जाता है लोक के स्तर पर! उस अभागे व्यक्ति के 'सत्य और धर्म' की व्याख्या आप कैसे करेंगे जिसने कत्ल नहीं किया, फ़िर भी उसे फ़ाँसी की सज़ा मिल चुकी है? राष्ट्रभक्त वीर भगतसिंह, सुखदेव, रामप्रसाद विस्मिल, अशफाकुल्ला, रौशन सिंह, राजेन्द्र लाहिड़ी और खुदीराम बोस ने भला किस **सत्य अथवा धर्म** का उल्लंघन किया था? वे तो सत्य एवं धर्म के ही लिए प्राणोत्सर्ग कर बैठे।

ऐसे विलक्षण आचरणों की प्रशस्ति भी **महाभारत** में ही मिल पाती है। यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो **महाराज** समाज का अन्तर्दर्पण (X-Ray) है।

---

१. एवं प्रवृत्तस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजाः।
सर्वात्मकेनापि यदा नाऽतुष्यद्धृदयं ततः।।
नाति प्रसीदद्धृदयः सरस्वत्यास्तटे शुचौ।
वितर्कयन् विविक्तस्थ इदं प्रोवाच धर्मवित्।।
धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्नयः।
मानिता नित्यलीकेन गृहीतं चाऽनुशासनम्।।
भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत।।
तथापि बत मे दैह्यो ह्यात्माचैवात्मना विभ्रः।
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्यसत्तमः।।

—श्रीमद्भाग॰ १.४.२६-३०

२. अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं तथापि नात्मा परितुष्यते मे।
तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं पृच्छामहे त्वाऽऽत्मभवात्मभूतम्।।
स वै भवान् वेद समस्तगुह्यमुपासितो यत्पुरुषः पुराणः।
परावरेशो मनसैव विश्वं सृजत्यवत्यत्ति गुणैरसङ्गः।।
त्वं पर्यटन्तर्क इव त्रिलोकीमन्तश्चरो वायुरिवात्मसाक्षी।
परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व।।

—वही १.५.५-६

३. भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम् । येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम् ॥
यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिताः । न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः ॥
न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशोजं गतपवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिकक्षयाः॥
तद्वाग्विसर्गो जनताद्यविरलवो यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृण्न्ति साधवः ॥
त्वमप्यदभ्रश्रुत विश्रुंत विभोः समाप्यते येन विदां बुभुत्सितम्।
आख्याति दुःखैर्मुदुरर्दितात्मनां संक्लेशनिर्वाणभुशान्ति नान्यथा ॥

—वही १.६.८-११,४०

४. पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।

—कुमार ०१.१